जैन आगम में

प्रायश्चित्त : स्वरूप और विधि

डा. पुष्पलता जैन

प्रायश्चित्त साधक और साधना की विशुद्धि से सम्बद्ध, आंतरिक चेतना से उद्भूत, एक पवित्र आभ्यन्तरिक तप है जो किसी चारित्रिक दोष से मुक्त होने के लिए किया जाता है। साधना की निश्छलता और स्वाभाविकता साधक की अन्यतम विशेषता है। यह विशेषता यदि किसी भी कारणवश खण्डित होती है तो साधक पवित्र मन से उसे स्वीकार कर पुनः अपनी स्वाभाविक स्थिति में वापिस पहुँच जाता है। वापिस जाने की इसी प्रक्रिया को प्रायश्चित्त कहा जाता है। प्रमादजन्य दोषों का परिहार, भावों की निर्मलता, निःशल्यत्व, अव्यवस्था निवारण, मर्यादा का पालन, संयम की दृढ़ता, आराधना सिद्धि आदि उद्देश्य प्रायश्चित्त की पृष्ठभूमि में होते हैं।[1]

आचार्यों ने प्रायश्चित्त के संदर्भ में प्रायः चार अर्थ किये हैं :—

(१) अपराध (२) लोक
(३) प्राचुर्य और (४) तपस्या।

अकलंक[2] और धर्मसंग्रहकार[3] ने प्रायः का अर्थ **अपराध** करके 'प्रायश्चित्त' को अपराध-शोधन का एक साधन माना है। धवला[4] में इसे **लोक वाचक** मानकर ऐसी प्रक्रिया का रूप कहा जिससे साधर्मी और संघ में रहने वाले लोगों का मन अपनी ओर से विशुद्ध हो जाये। **प्राचुर्य** अर्थ होने पर इसका तात्पर्य है चित्त की अत्यन्त निर्विकार अवस्था[5] और जब उसका अर्थ **तपस्या** होता है तब प्रायश्चित्त का सम्बन्ध तपस्या से संयुक्त चित्त हो जाता है।[6]

---

1. तत्त्वार्थ राजवार्तिक, 9 22
2. प्रायः साधु लोक. प्रायस्य यस्मिन् कर्मणि चित्तं तत्प्रायश्चित्तम्……अपराधो वा प्रायः चित्तशुद्धिः प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तम् अपराध विशुद्धिरित्यर्थः, वही, 9·22।
3. (क) प्रायः पापं विनिर्दिष्टं चित्तं तस्य विशोधनम्। धर्म संग्रह, 3;
   (ख) पाव छिंदइ जम्हा पायच्छित्त त्ति भण्णइ तेण। —पंचाशक सटीक विवरण, 16·3।
4. प्रायः इत्युच्यते लोकश्चित्तं तस्य मनोभवेत्।
   तच्चित्तग्राहक कर्म प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥ —13·5, 4·26, गाथा 9
5. नियमसार, तात्पर्यवृत्ति, 113
6. पद्मचन्द्र कोष, पृष्ठ 258

www.jainelibrary.org

जैनाचार्यों ने प्रायश्चित्त के अर्थ को निश्चयनय और व्यवहारनय की दृष्टि से भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। निश्चयनय में प्रायश्चित्त का ऐसा उत्कृष्ट स्वरूप प्रतिध्वनित होता है जिसमें साधक ज्ञानस्वरूप आत्मा का बार-बार चिंतवन करता है और विकथादि प्रमादों से अपना मन विरक्त कर लेता है।[7] जब साधक प्रमादजन्य अपराध का परिहार कर लेता है तब वह प्रायश्चित्त के व्यावहारिक रूप को अंगीकार कर लेता है।[8] प्रायश्चित्त के ये दोनों रूप आध्यात्मिक साधना के लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन हैं। मूलाचार (गाथा ३६३) में प्रायश्चित्त के लिए कुछ पयार्यवाची शब्द दिये हैं :— प्राचीन कर्म-क्षेपण, निर्जरा, शोधन, धावन, पुच्छन, उत्क्षेपण और छेदन। ये नाम भी पायश्चित के विविध रूपों को अभिव्यक्त करते हैं।

प्रायश्चित्त का सांगोपांग वर्णन छेद सूत्र, व्यवहार-सूत्र, निशीथ, जीतकल्प, मूलाचार, भगवती आराधना, अनगार धर्मामृत आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। अंगों में यद्यपि छुट-पुट उल्लेख मिलते हैं पर उनका व्यवस्थित वर्णन दिखाई नहीं देता।

प्रायश्चित्त को जैनधर्म में तप का सप्तम प्रकार अथवा आभ्यन्तर तप का प्रथम प्रकार माना जाता है। बारह तपों के प्रकारों में बाह्य तप के तुरन्त बाद आभ्यन्तर तप का वर्णन हुआ है जिसका प्रारम्भ प्रायश्चित्त से होता है। इसका तात्पर्य यह माना जा सकता है कि आचार्यों की दृष्टि में विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग की आधारशिला प्रायश्चित्त को स्वीकारा गया है। यह उसके महत्त्व की ओर इंगित करता है क्योंकि अपने अपराध की निश्छल स्वीकृति साधक की आन्तरिक पवित्रता की प्रतिकृति है। प्रायश्चित्त आलोचनापूर्वक ही होता है और जो ऋजुभाव से अपने अपराधों की आलोचना करता है वही प्रायश्चित देने योग्य है।

प्रायश्चित्त की परिधि और व्यवस्था स्वयंकृत अपराधों के प्रकारों पर निर्भर रहा करती है। इसी आधार पर आचार्यों ने इसे दस भेदों में विभाजित किया है। मूलाचार (गाथा ३६२) के अनुसार ये दस भेद हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान। भगवती सूत्र (२५·७) तथा स्थानांग सूत्र (१०) में अन्तिम भेद परिहार और श्रद्धान के स्थान पर अनवस्थाप्य और पारांचिक भेदों का उल्लेख है। मूलाचार की परम्परा धवला (१३·५·४·२६·११), चारित्रसार (पृ० १३७), अनगार धर्मामृत (७·३७) आदि ग्रन्थों में देखी जा सकती है। उमास्वाति ने कुछ परिवर्तन के साथ नव भेद ही माने हैं। उन्होंने मूल को छोड़ दिया है और श्रद्धान के स्थान पर उपस्थापना को स्वीकार किया है। ठाणांग (८·३ सूत्र ६०५) में अनवस्थाप्य और पारांचिक छोड़कर कुल आठ भेद माने हैं। उसी में अन्यत्र (१०·३ सूत्र ७३३) यह संख्या भगवती जैसी दस भी मिलती है। ठाणांग (४·१ सूत्र २६३) ही प्रायश्चित्त के चार भेदों का उल्लेख करता है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त (गीतार्थ मुनि द्वारा पाप विशोधक कृत्य)। यहीं उसके चार अन्य प्रकार भी द्रष्टव्य हैं—प्रतिसेवना (प्रतिसिद्ध का सेवन करना) २. प्रायश्चित्त (एकजातीय अतिचारों की शुद्धि करना) ३. आरोपना प्रायश्चित्त (एक ही अपराध का प्रायश्चित्त बार-बार लेना) ४. परिकुंचना प्रायश्चित्त (छिपाये अपराध का प्रायश्वित्त लेना)। भगवती सूत्र (२५·७) में यह संख्या बढ़कर पचास तक पहुँच गयी है—दस प्रायश्चित्त, दस प्रायश्चित्त देने वाले के गुण, दस प्रायश्चित्त लेने वाले के गुण, प्रायश्चित्त के दस दोष और प्रतिसेवना के दस कारण।

---

7. नियमसार, 114

8. सर्वार्थसिद्धि, 9·20

Jain Education International · For Private & Personal Use Only · www.jainelibrary.org

प्रायश्चित्त का यह सारा वर्गीकरण कदाचित् व्यक्ति के परिणाम और उसकी मनोवृत्ति पर आधारित रहे हैं। उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो सकता है। आचार्यों ने अपराधों की संख्या को सीमित करने की अपेक्षा प्रायश्चित्त को सीमित करके उसे दस भेदों में वर्गीकृत कर दिया है जिनके आधार पर साधक अप्रशस्त भावों से मुक्त होकर प्रशस्त भावों में स्वयं को प्रतिष्ठित कर लेता है।

१. आलोचना

निष्कपट भाव से प्रसन्नचित्त होकर आचार्य के समक्ष आत्म-दोषों को अभिव्यक्त करना आलोचना है।[9] आलोचना करके, साधक पुनः पूर्वस्थिति में पहुँच जाता है। सच्चा आलोचक वही हो सकता है जो जाति, कुल, विनय, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, क्षांति, दांति, निष्कपटता और अपश्चात्तापता गुणों से आभूषित हो।[10] इसी तरह आलोचना ऐसे साधुओं के समक्ष की जाती है जो बहुश्रुत हों, आचार्य या उपाध्याय हों तथा आठ गुणों से संयुक्त हों—आचारवान्, आधारवान (अतिचारों को समझने वाला), व्यवहारवान्, अपव्रीडकर (आलोचक साधु की शर्म को दूर करने वाला), प्रकुर्वक (अतिचारों की शुद्धि कराने में समर्थ), अपरिस्रावी (आलोचक के दोषों को प्रकट न करने वाला), निर्यापक (असमर्थ साधु को क्रमिक प्रायश्चित्त देने वाला), और अपायदर्शी (परलोक आदि का भय दिखाने वाला)।[11]

आलोचना करने वाला साधु यदि यथार्थ साधुत्व से दूर होगा, मायावी होगा तो वह आलोचना निम्नलिखित आठ कारणों से करेगा—१. अपमान निन्दा से बचने के लिए २. तुच्छ जाति के देवों में उत्पन्न होने से बचने के लिए ३. निम्न मानव कुल में उत्पन्न होने से बचने के लिए ४. विराधक समझे जाने का भय ५. आराधक होने की आकांक्षा ६. आराधक न होने का भय, ७. आराधक होने का मायाचार और ८. मायावी समझे जाने का भय। इसी प्रकार आगमों में ऐसे भी कारणों का उल्लेख आता है जिनके कारण मायावी आलोचना प्रतिक्रमण नहीं करते—१. अपराध करने पर पश्चात्ताप की क्या आवश्यकता, २. अपराध से निवृत्त हुए बिना आलोचना की क्या उपयोगिता, ३. अपराध की पुनः प्रवृत्ति ४. अपयश-(चतुर्दिशाओं में व्याप्त) ५. अपकीर्ति (क्षेत्रीय बदनामी), ६. अपनय (सत्कार न होना), ७. कीर्ति पर कलंक का भय ८. यश कलंकित होने का भय। मायावी साधक इन कारणों से पश्चात्ताप नहीं करता। वह मन ही मन पश्चात्ताप रूपी आग में जलता रहता है, चारित्रिक पतन से अपमानित होता है और मरकर दुर्गति में जाता है।[12]

आलोचना निर्दोष होनी चाहिए। उसमें किसी भी तरह का छल-कपट न हो। भगवती आराधना (२५·७), ठाणांग (१०·७३३), तत्त्वार्थ राजवार्तिक (९·२·२२) आदि ग्रन्थों में आलोचना के दस दोषों का उल्लेख मिलता है—१. प्रायश्चित्त के समय आचार्य को उपकरण आदि देना ताकि प्रायश्चित्त थोड़ा मिले—आकंपयिता २. अनुमान लगाकर अथवा दुर्बलता आदि का बहाना कर प्रायश्चित्त लेना—अणुमाणइत्ता ३. दूसरों के द्वारा ज्ञात दोषों का प्रकट कर देना और अज्ञात दोषों को छिपा लेना—दिट्ठं। राजवार्तिक में इसी को मायाचार कहा है। ४. केवल स्थूल दोषों को कहना—बायरं। ५. अल्प दोषों को कहना—सुहुमं। ६. उसी दोष में निमग्न साधु से आलोचना करना—तस्सेवी। ७. एकान्त स्थान में धीरे-

9. भगवतीसूत्र, 25·7 टीका; तत्त्वार्थवार्तिक 9·21·2
10. वही, 25·7
11. ठाणांग, 8·3·604
12. ठाणांग, 8·3·597

Jain Education International   For Private & Personal Use Only   www.jainelibrary.org

धीरे आलोचना करना—छन्न। ८. प्रशंसा अथवा पापभीरुता को प्रदर्शित करने के उद्देश्य से भीड़ के समक्ष आलोचना करना—बहुजण। ९. अजानकार के समक्ष आलोचना करना—अव्वत्त और १०. उच्च स्वर से कहना—सद्दाउलय। अंतिम चार दोषों के स्थान पर तत्त्वार्थवार्तिक में निम्नलिखित चार दोषों की गणना की गयी है—१. प्रायश्चित्त जानकर आलोचना करना २. कोलाहल में आलोचना करना, ३. गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त की आगम विहितता की जानकारी करना ४. अपने दोष का संवरण करना। इन दोषों से मुक्त होकर निष्कपट वृत्ति से अबोध बालक की तरह सरलतापूर्वक दोष निवेदन करने में इस प्रकार के दोषों से साधक मुक्त हो जाता है।

ग्रन्थों के अध्ययन से ऐसा लगता है कि साधु और आर्यिका के आलोचना प्रकार में आचार्यों ने कुछ अन्तर रखा है। उदाहरण के तौर पर साधु की आलोचना तो एकांत में आलोचक और आचार्य इन दो उपस्थिति में हो जाती है पर आर्यिका की आलोचना सार्वजनिक स्थान में तीन व्यक्तियों की उपस्थिति में ही होती है।[13] यह अन्तर कदाचित् प्रायश्चित्त देने वाले आचार्य को स्वयं पर विश्वास न करने का परिणाम होगा।

प्रशस्त भावों में केन्द्रित होने के लिए आत्मालोचन कदाचित् सर्वोत्तम साधन माना जा सकता है क्योंकि साधक उसके माध्यम से आत्मस्थ हो जाता है। आचार्य अकलंक ने आलोचना की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहा है—"लज्जा और परतिरस्कार आदि के कारण दोषों का निवेदन करके भी यदि उनका शोधन नहीं किया जाता है तो अपनी आमदनी और खर्च का हिसाब न रखने वाले कर्जदार की तरह दुःख का पात्र होना पड़ता है। बड़ी भारी दुष्कर तपस्यायें भी आलोचना के बिना उसी तरह इष्टफल नहीं दे सकतीं जिस प्रकार विरेचन से शरीर की मल शुद्धि किये बिना खाई गई औषधि। आलोचन करके भी यदि गुरु के द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का अनुष्ठान नहीं किया जाता है तो वह बिना संवारे धान्य की तरह महाफलदायक नहीं हो सकता।[14]

२. प्रतिक्रमण

प्रतिक्रमण का तात्पर्य है वापिस लौटना। अर्थात् अशुभ योग से शुभयोग में, 'मिथ्या मे दुष्कृतम्' मानकर प्रवृत्त हो जाना, आत्मगुण में लौट जाना।[15] आवश्यकनिर्युक्ति (१२३३-१२४४) तथा आवश्यक-चूर्णि में प्रतिक्रमण के निम्न आठ नाम सोदाहरण मिलते हैं—प्रतिक्रमण, परिहरण, वारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि। इनसे प्रतिक्रमण के भिन्न-भिन्न आयामों पर प्रकाश पड़ता है। दोषों के पीछे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से पाँच विशेष कारण होते हैं। इनसे मुक्त होने के लिए साधक अपने दोषों का प्रतिकार करता है। क्षायोपशमिक भावों से औदयिक भाव में जाना और फिर औदयिक से क्षायोपशमिक में वापिस हो जाना यही प्रतिक्रमण है, आचार्य हरिभद्र और हेमचंद्र की दृष्टि में। इसलिए विषय के भेद से प्रतिक्रमण पांच प्रकार का माना जाता है—आश्रवद्वार प्रतिक्रमण, मिथ्यात्व प्रतिक्रमण, कषाय प्रतिक्रमण, योग प्रतिक्रमण, भाव प्रतिक्रमण। अविरति और प्रमाद का समावेश आश्रवद्वार में हो जाता है।[16]

---

13. तत्त्वार्थ, 9·22·2
14. वही, 9·22·2
15. स्वस्थानात् यत् परस्थान, प्रमादस्य वशाद् गतम्।
    तत्रैव क्रमणं भूयः प्रतिक्रमणमुच्यते॥
16. ठाणांग, 5·3·467

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रायश्चित्त और **प्रतिक्रमण** में अन्तर यह है कि प्रायश्चित्त आचार्य के समक्ष लिया जाता है पर प्रतिक्रमण में आचार्य की आवश्यकता नहीं होती। उसे साधक स्वयं प्रातः मध्यान्ह और सायंकाल कर सकता है। **आवश्यकों**[17] में उसे स्थान देकर आचार्यों ने उसकी महत्ता को प्रदर्शित किया है। इसमें साधक भूतकाल में लगे हुए दोषों की आलोचना करता है, वर्तमान काल में लगने वाले दोषों से संवर द्वारा बचता है और प्रत्याख्यान द्वारा भावी दोषों को रोकता है।

अपराध छोटा होने पर भी प्रतिक्रमण किया जाता है। भावपाहुड (७८) में ऐसे छोटे अपराधों का उल्लेख किया है जैसे—छहों इन्द्रियाँ तथा वचनादिक का दुष्प्रयोग, अपना हाथ-पैर आचार्य को लग जाना, व्रत समिति आदि में दोष आ जाना, पैशुन्य तथा कलह करना, वैय्यावृत्य-स्वाध्यायादि में प्रमाद यतन करना आदि।

पडिक्कमणवस्सय में भी एक लम्बी लिस्ट दी है जिससे साधक-मुनि को बचना चाहिए—स्थूल-सूक्ष्म हिंसा, गमन दोष, आहार दोष, शल्य, मन-वचन-काय दोष, कषाय, मद, अतिचार, समिति-गुप्ति-दोष, सत्रह प्रकार का असंयम, १८ प्रकार का अब्रह्म, २० असमाधिस्थान, २१ शबलदोष, ३३ आसातना आदि।

यह प्रतिक्रमण व्रत रहित स्थिति में भी आवश्यक बताया है। यह शायद इसलिए कि अव्रती साधक का भी झुकाव व्रत की ओर रहता ही है। चारित्रमोहनीय का विशिष्ट क्षयोपशम न होने से व्रत ग्रहण करने में वह कमजोरी महसूस करता है। पर व्रत धारण करने की शुभ प्रतीक्षा तो वह करता ही है। इससे व्रतधारियों के प्रति सम्मान का भाव बढ़ता है तथा व्रत-पालन की दिशा में कदम भी आगे आता है।

सामान्यरूप से प्रतिक्रमण दो प्रकार का होता है—द्रव्यप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण। उपयोगरहित सम्यक्दृष्टि का प्रतिक्रमण द्रव्यप्रतिक्रमण है। मुमुक्षु के लिए भावप्रतिक्रमण ही उपादेय है। कर्मों की निर्जरा रूप वास्तविक फल भावप्रतिक्रमण से ही होता है। वर्तमान में लगे दोषों को दूर करना और भविष्य में लगने वाले दोषों को न होने देने के लिए सावधान रहना प्रतिक्रमण का मुख्य उद्देश्य है।

पंचाशक (१७ गाथा० ६-४०) में दस कल्पों का वर्णन मिलता है जिनमें प्रतिक्रमण भी है। कल्प का तात्पर्य है साधुओं का अनुष्ठान विशेष अथवा आचार।[18]

३. तदुभय

कुछ दोष आलोचना मात्र से शुद्ध होते हैं, कुछ प्रतिक्रमण से तथा कुछ दोनों से शुद्ध होते हैं, यह तदुभय है। जैसे एकेन्द्रिय जीवों का संस्पर्श, दुःस्वप्न देखना, केश लुंचन, नखच्छेद, स्वप्न दोष, इन्द्रिय का अतिचार, रात्रिभोजन आदि।[19]

---

17. सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग।

18. जैन बोल संग्रह, भाग 3, पृ० 240; मूलाचार (गाथा 909); पचाशक, 17, गाथा 6-40

19. अनगार धर्मामृत, 7·53

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

४. विवेक

विवेक का तात्पर्य है त्याग। आधाकर्म आदि आहार आ जाने पर उसे छोड़ देना विवेक प्रायश्चित्त है।

५. व्युत्सर्ग

नदी, अटवी आदि के पार करने में यदि किसी तरह का दोष आ जाता है तो उसे कायोत्सर्ग-पूर्वक विशुद्ध कर लिया जाता है। अनगारधर्मामृत तथा भावपाहुड में ऐसे अपराधों की एक लम्बी सूची दी है जिसके लिए व्युतसर्ग प्रायश्चित्त करना आवश्यक माना गया है। इसे कायोत्सर्ग भी कहा जाता है। इसमें श्वास का नियमन कर समता का भावन किया जाता है। इससे अनासक्ति और निर्भयता का विकास होता है जो आत्म-साधना के लिए आवश्यक है।[२०]

६-१०. तप, छेद आदि अन्य भेद

अनशन, अवमौदर्य आदि तप हैं। यह तप प्रायश्चित्त सशक्त और सबल अपराधी को दिया जाता है। बार-बार अपराध करने पर चिर-प्रव्रजित साधु की अमुक दिन, पक्ष और माह आदि की दीक्षा का छेद करना छेद है। इससे साधु व्यवहारतः अन्य साधुओं से छोटा हो जाता है। मूल प्रायश्चित्त उसे दिया जाता है जो पार्श्वस्थ, अवसन्न कुशील और स्वछन्द हो जाता है अथवा उद्गम आदि दोषों से युक्त आहार, उपकरण, वसतिका आदि का ग्रहण करता है। जिन गुरुतर दोषों से महाव्रतों पर आघात होता है उनके होने पर दीक्षा पर्याय का पूर्णतया छेदन कर दिया जाता है और पुनः दीक्षा दे दी जाती है।[२१] इसी को उमास्वाति ने श्रद्धान या उपस्थापना कहा है। अनवस्थाप्य परिहार में विशिष्ट गुरुतर अपराध हो जाने पर साधक को श्रमण संघ से निष्कासित कर गृहस्थ वेश धारण करा दिया जाता है बाद में विशिष्ट तप आदि करने के उपरांत पुनः दीक्षा दी जाती है। पारांचिक परिहार में छह माह से बारह वर्ष तक श्रमण संघ से निष्कासित किया जाता है। यह प्रायश्चित्त उस मुनि को दिया जाता है जो तीर्थंकर, आचार्य, संघ आदि की झूठी निन्दा करता है, विरुद्ध आचरण करता है, किसी स्त्री का शील भंग करता है, वध की योजना बनाता है अथवा इसी तरह के अन्य गुरुतर अपराधों में लिप्त रहता है।

इन प्रायश्चित्तों के माध्यम से साधक अपना अन्तर्मन पवित्र करता है और वह पुनः सही मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है। यहाँ यह आवश्यक है कि व्रतों में अतिचार आदि दोष आ जाने पर तुरन्त उसका प्रायश्चित्त ले लेना चाहिए अन्यथा उसका विस्मरण हो जाता है और फिर वह संस्कार-सा बनकर रह जाता है। जो भी हो, प्रायश्चित्त अध्यातम यात्रा की एक सीढ़ी मानी जा सकती है जिस पर चढ़कर साधक अपनी साधना में निखार लाता है और अपराधों से बचकर अपनी तपस्या को विशुद्ध कर लेता है।

卐 • 卐

---

20. तत्त्वार्थवार्त्तिक, 9·26

21. धवला, 13·5 4·26

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org